ISSN 2349-4654
नाद-नर्तन जर्नल ऑफ डांस एण्ड म्यूज़िक वर्ष : 2, अंक : 1, नवम्बर 2015

ईश आराधना की संगीतमय परम्पराएँ

शुची

असिस्टेंट प्रोफेसर, किशन लाल पब्लिक कॉलेज, देहली रोड, रेवाड़ी

सार-संक्षेप

हमारी धार्मिक मान्यताओं के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा का सम्बन्ध पिता-पुत्र तुल्य माना गया है। इस भावना से अभिभूत हो कर वह सदैव अपने सृजनकर्ता अथवा निर्माता के प्रति आस्थावान रहता है। ईश्वर को सदैव स्मरण करने की उसकी प्रवृति सहज ही होती है। इतनी ही सहजता से उसने (मनुष्य) अभिव्यक्ति के माध्यम का बोध संगीत कला के रूप में वातावरण एवं परम्पराओं से प्राप्त कर लिया। कारण स्पष्ट है कि जो कला स्वयं ईश्वर द्वारा मनुष्य को उपहार स्वरूप प्रदत्त है। प्रतिदान स्वरूप परमात्मा का अभार उसी माध्यम से व्यक्त करना आभारभिव्यक्ति का ही रूप है। हमारे पूर्वजों ने गहन साधना द्वारा इस कला को ईप्शोसना प्रयोग करने हेतू अनेको विधियाँ, विकसित की जो वर्तमान समय में भी प्रासांगिक है। जैसे यज्ञ विधि, भजन, कीर्तन, सत्संग विधि इत्यादि। विभिन्न देश कालों एवं कालखण्डो में संगीतमय ईश्आराधना की परम्पराएँ विभिन्न नामों से प्रचलित रही और संगीत कला ईश्आराधना का पर्याय बन गई। भक्ति संगीत का मार्ग भौतिक संसार में जीवात्मा को परमात्मा से जोड़े रखने में सक्षम है। जबकि ये सर्वथा विपरीत धाराएँ है। प्रस्तुत शोध-पत्र में सामगान परंपरा, पुष्टि मार्गीय हवेली संगीत परंपरा, गुरमत संगीत परंपरा तथा कीर्तन परंपरा आदि का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

मुख्य शब्द : सामगान परंपरा, हवेली संगीत, गुरमति संगीत, कीर्तन परंपरा, संगीत शास्त्र

शोध-पत्र

इस प्रकार मनुष्य जीवन को सरल एवं सुगम बनाने में संगीत कला तुल्य कोई अन्य साधन नहीं है। मनुष्य सुख-दु:ख, हर्ष-विषाद जैसी भावनाओ की तीव्रता में जब आत्मिक भावनाएँ मुख से प्रस्फुटित होती हैं तो स्वर, लय और ताल के सामन्जस्य से उनमें ईश्वर से साक्षात्कार करने की असीम शक्ति निहित होती है। परिणामस्वरूप परमात्मा के निकट पहुँचने का आभास होने लगता है। हमारे संगीत ग्रंथों में वर्णित है कि —

''वीणावादनतत्वज्ञ: श्रुति जाति विशारद:।
तलज्ञश्चाप्रसेन मोक्ष मार्ग नियच्छति।। [1]

अर्थात् वीणा वादन का ज्ञाता, श्रुतियों तथा जातियों का मर्मज्ञ और ताल के स्वरूप का ज्ञाता पुरुष स्वरों में अनुबद्ध ब्रह्मा की उपासना द्वारा थोडे परिश्रम से ही मोक्ष मार्ग को प्राप्त होता है।[2] कहने का तात्पर्य यह है कि संगीत कला की साधना इशोपासना के समरूप है।

अत: भक्तिमय संगीत परम्पराएँ सदियों से मनुष्य को ईश्वर से जोड़े रखने का माध्यम रही है। संगीत कला ने समाज में सदाचार, बन्धुत्व की भावना, सात्विकता एवं भक्ति आदि की भावनाओं को और अधिक प्रबल एवं पुष्ट करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। भारत जैसे विशाल धर्म प्रधान देश की संस्कृति में भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में अनेको ईशोपासना की परम्परायें प्रचलित रही हैं। इन सभी का यहाँ विवेचन करना संभव नहीं है। अत: उनमें से कुछ का विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है, यथा- सामगान परम्परा, पुष्टिमार्गीय हवेली संगीत परम्परा, गुरमति संगीत परम्परा और कीर्तन परम्परा आदि, इन सभी में ईश आराधना को मनुष्य जीवन का उद्देश्य एक मत से स्वीकार किया गया। यही कारण है कि शायद भारत भूमि अनेको राजीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों के दौर में भी स्वयं के अस्तित्व को बचा पाई। विषय को आगे बढाते हुए इन संगीतमय ईशोपासना की पद्धतियों पर संक्षिप्त दृष्टिपात किया जा रहा है।

सामगान परम्परा

वैदिक कालीन शास्त्रीय संगीत को 'सामगान' की संज्ञा दी जाती है। इस संदर्भ में निम्न व्याख्या उपलब्ध होती है। ''गीतिषु सामाख्या'' अर्थात जो मंत्र गाये जाए वे 'साम' कहलाते है।[3] वैदिक युग में यज्ञ आदि धार्मिक अनुष्ठानों के समय देवी-देवताओं की स्तुति हेतु जो सस्वर मंत्र गाये जाते थे वह साम कहलाये। इस संगीत परम्परा का आधार स्तोभ गान था जिसमें ईश्वर की स्तुति हेतू पद संकलित किए जाते थे। कालान्तर में स्तोभ गान ने ही 'प्रबन्ध शैली' को पुष्ट किया जिसे सामगान की संज्ञा दी गई। तत्कालीन समाज में होने वाले केवल धार्मिक उत्सवों में सामगान सामूहिक रूप से किया जाता है। सामगान परम्परा के अन्तर्गत पंचविध उपासनाओं का उल्लेख मिलता है, अर्थात पाँच भक्तियाँ है, यथा—प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव तथा निधन। इन सभी का क्रमानुसार गायन किया जाता था। उद्गीथ को साम संगीत का प्राण कहा गया जिसका अर्थ है 'गान'। साम गायकों के वर्ग को 'उद्गाता' कहते

थे। इसका तात्पर्य उच्च स्वर में गायन करने वाले व्यक्तियों के समूह से है। इस संदर्भ में 'उपगाता' शब्द का प्रयोग इनके सहायक के लिए किया जाता था। जो केवल मंत्रोच्चारण के समय हो। स्वर का उच्चारण करते थे। परम्परा कहने का तात्पर्य यह है कि 'सामगान परम्परा' आध्यात्मिकता की पृष्ठभूमि पर ही पोषित हुई। इस संदर्भ में श्रीमद्भागवत गीता में भगवान श्री कृष्ण ने स्वयं कहा है कि ''वेदानां सामवेदोऽस्मि:'' अर्थात् वेदों में सामवेद मेरा ही स्वरूप है।[4] अत: स्पष्ट है सामगान परम्परा मनुष्य जाति को ईश्वरीय प्रदत वरदान स्वरूप है जिसमें ईशोपासना के अतिरिक्त अन्य कोई विषय सम्मिलित किया ही नहीं जा सकता। सामगान परम्परा को उपासना का स्त्रोत कहे तो अतिश्योक्ति न होगी। इसके अन्तर्गत छंदबद्ध मंत्रो (ऋचाओं) को गेयात्मक रूप में यज्ञ की क्रिया के दौरान सूर्य, वरूण, अग्नि आदि देवताओं के आह्वान एवं स्तुतिगान हेतू प्रस्तुत करने का विधान था। वैदिक-कालीन संगीत में मुख्य तीन स्वर थे—उद्धात, अनुद्धात और स्वरित कहा जाता है। उद्धात आदि स्वरों की सत्ता वैदिक संगीत की विशेषता है। साम संगीत के विकास के साथ-साथ सप्त स्वरों का विकास भी हुआ, जिन्हें क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय भी कहा जाता है। एक स्वर से गान आर्चिक, स्वर द्वय से गान गाथिक और तीन स्वरो से गान सामिक कहलाता था। सात स्वरों के क्रमश: प्रयोग होने के अभिधान निम्न थे- प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ मन्द्र, क्रुष्ट अतिस्वार। उस समय वेदों की विभिन्न शाखाओं में स्वर संख्या भी भिन्न-भिन्न थी। नारदीय शिक्षा के अनुसार—साम गायको का प्रथम स्वर था वेणु का मध्यम, द्वितीय गंधार, तृतीय ऋषभ, चतुर्थ षड्ज, पंचम धैवत, षष्ठ निषाद और सप्तम पंचम का पर्याय स्वरूप है। यह क्रम म, ग, रि, सा, ध, नि, प-स प्रकार बनता है।[5] उक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि सामगान में संगीतशास्त्र और देवार्चन के तत्वों का सम्मलित रूप है। साम संगीत परम्परा का आविर्भाव और निर्वाहन दोनों की पृष्ठभूमि में ईशोपासना का उद्देश्य निहित रहा। वैदिक सभ्यता के विकास के साथ-साथ हमारे ऋषि-मुनियों ने उपासना के ऐसे स्त्रोत की परिकल्पना की जो संगीत शास्त्र-सम्मत हो।

इसकी प्रेरणा उनहोंने भक्तिमार्ग पर चलकर प्राप्त की। कठोर साधना के परिणाम स्वरूप सामसंगीत को स्वयं के अन्त:करण में पाया। इस कथन के पुष्टि स्वरूप यास्क का मत दृष्टव्य है। यथा ''यास्क ने निरूत्तर नामक ग्रन्थ साक्षात्कृतधर्मा में कहा है कि जिन्होंने साम मन्त्रो का दर्शन स्वयं अपनी साधना से किया था किसी से सीख कर नही। समवेद की गान संहिता में इस प्रकार के जिन 'मंत्राद्रष्टा' ऋषियों के नाम संकलित है उनमें विश्वामित्र, शन:शेय, वामदेव, कणव, भारद्वाज और उश्ना आदि प्रमुख थे।''[6]

मानव जाति के कल्याण की भावना अन्त:करण में लिए आचार्य साधनारत रहे, तत्पश्चात माँ सरस्वती की अनुकम्पा से सामसंगीत के रूप में ऐसे अमृत तत्व की प्राप्ति हुई जो मोक्ष प्राप्ति का सहज मार्ग था। साम संगीत केवल मात्र संगीत परम्परा नहीं थी अपितु समाज में सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं परिग्रह जैसे सद्गुणों को चरित्र का अभिन्न अंग बनाने की प्रक्रिया भी थी। वैदिक संस्कृति में धर्म सदैव आत्म उन्नति के समानान्तर जन कल्याण जैसी विशेषताओं का समन्वय रहा है। अत: संगीत के आवरण में लिपटे धर्म के द्वारा हमने उपरोक्त सभी गुण सहज ही आत्मसात कर लिए। कालान्तर में भी ईशोपासना एवं संगीत के उद्भुद समन्वय के दर्शन भिन्न-भिन्न संगीत परम्पराओं के माध्यम से होते है। जिनका विवरण अग्रलिखित है। निष्कर्षत: सामसंगीत परम्परा भारतीय संगीत के इतिहास में एक स्वर्णिम अध्याय की भांति है जो चिरकाल तक सहेजी जायेगी क्योंकि यह केवल मात्र एक संगीत परम्परा नहीं है अपितु ईश्वर की असीम अनुकम्पा से अनुगृहित होने का मार्ग भी है। निष्कर्षत: सामसंगीत परम्परा ने सदियों तक हमें धर्म और संस्कृति से दृढ़ता से जोड़े रखने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

हवेली संगीत परम्परा

पुष्टिमार्गीय हवेली संगीत परम्परा यद्यपि मध्यकाल में अस्तित्व में आई परन्तु इस परम्परा का मूल वेदों में निहित माना गया है। 'हवेली' शब्द ईश आराधना के केन्द्र 'मंदिर' के पर्यायवाची के रूप में जाना जाता है। इस परम्परा की समकालीन अन्य तीन परम्पराएँ (सम्प्रदाय) भी समान रूप से समाज को ईश आराधना का रसस्वादन कराती रही। यथा- चैतन्य सम्प्रदाय, गौड़िया सम्प्रदाय और राधा-वल्लभी सम्प्रदाय आदि। इन सभी सम्प्रदायों में इस परम्परा का निर्वाहन, 'कीर्तन' पद्धति के रूप में किया जाता है। शास्त्रों में वर्णित तथ्यों के अनुसार नवविध भक्ति के अन्तर्गत कीर्तन पद्धति को सर्वसुलभ, सहज एवं सुगम उपासना का मार्ग माना गया है। पुष्टि मार्गीय हवेली संगीत परम्परा में भक्ति रस से परिपूर्ण पदावलियों को परम्परागत ध्रुवपद शैली में निबद्ध करके भगवान के बालकृष्ण रूप की उपासना करने का चलन है। जिस स्थान में वह बालरूप में निवास करते है वह स्थान 'हवेली' कहलाता है। इन हवेलियों में भक्त अपने प्रभु के सानिध्य में रहते हुए उनकी आठों प्रहर की भक्ति करते हुए असीम आनन्द का अनुभव करते है। इन्हे नित्य लीला के पद कहते है जिनमे मंगला, श्रृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, आरती एवं शयन आदि क्रियाएँ सम्मिलत होती है। नित्य-लीला के पदों की भाव अभिव्यक्ति समयानुकूल रागों में संगीत-शास्त्र सम्मत ढंग से की जाने की परम्परा है। पुष्टि मार्गीय ग्रन्थों पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि इस परम्परा में वीणा, डफ, मंजीरा, जलतरंग, सारंगी, स्वरमंडल, पखावज आदि वाद्यों का प्रयोग किया जाता है। अवन्द्र वाद्यों को धमार, झूमरा आदि तालो से बजाया जाता है। लगभग 5 सदी पुरानी पुष्टि मार्गीय सम्प्रदाय की यह परम्परा ब्रज, सौराष्ट्र, कच्छ, मालवा, गुजरात व राजस्थान आदि प्रदेशो में मिलती है। आठो पहर की भक्ति कुछ निर्धारित रोगो में ही करने की परम्परा है। यहां दृष्टव्य तथ्य यह है कि जब-जब भारतीय संस्कृति सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों के दौर से गुजरी तब-तब धर्म रूपी आधार स्तम्भ पर लोगो ने शरण ली और हर बार हम अपनी संस्कृति को और अधिक सशक्त कर पाए।

महाप्रभु बल्लभाचार्य एवं गोसाई विट्ठल दास जी द्वारा इस संगीतमय परम्परा की नींव रखी गई तथा इन्हीं की शिष्य परम्परा अष्टछाप कवियों के नाम से जानी जाती है। ध्रुवपद-धमार युक्त कीर्तन शैली खास हवेली

परम्परा की ही देन है। प्राचीन ध्रुवपद शैली को पोषित एवं संरक्षित करने का श्रेय भी इसी संगीतमय परम्परा को जाता है। भक्त कीर्तनकारो का उद्देश्य आठो पहर अपने ईष्ट भगवान श्री कृष्ण की भक्ति में लीन रहना था।''अष्ट छाप के नाम से विख्यात भक्त कवियों में कुम्भनदास, सूरदास, कृष्णदास एवं परमानन्ददास महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे। शेष नन्ददास, चतुर्भुजदास, गोबिन्द स्वामी व छीतस्वामी गोसाई विट्ठल जी के शिष्य थे।''[7] भक्त कवियों को 'अष्टछाप' नाम देने के पीछे संदर्भ यह था कि इन आठों कवियों में प्रत्येक के पास आठ-आठ झालरिये (भजन का टेक उठाने वाले सहायक) रहा करते थे। 'अष्ठछाप' कवियों के अतिरिक्त ऐसे अनेको भक्त कवि हुए जिन्होंने अपनी रचनाओं से जनमानस को भक्ति इस में सराबारे किया। यथा—मीराबाई, नरसी मेहता, रैदास, ठाकुर जयदेव, चरजू, रसखान, स्वामी हरिदास आदि। विशुद्ध ब्रज भाषा में रचे गए पदों की विशेषता इसमें निहित भावों की प्रधानता, कोमलता एवं सरलता को बिना किसी रागहानि के प्रस्तुतिकरण में निहित है। इस परम्परा में साधक की प्रत्येक सांस ईशोपासना से सराबोर दिखाई देती है। प्रभु का प्रत्येक दर्शन भक्तों की संगीतमय पूजा विधि द्वारा सम्पन्न होने की परम्परा है। ईष्ट की भक्ति ही साधकों की जीवन रेखा प्रतीत होती है। वर्तमान समय में उज्जैन स्थित मंदिरों जैसे श्रीनाथ जी का मंदिर, गोवर्द्धनाथ जी का मंदिर, मदन मोहन जी का मंदिर, पुरुषोतम जी का मंदिर आदि में इसी परम्परा का निर्वाह किया जाता है।

''हवेली एक शास्त्रीय संगीतशाला है। यदि ऐसा कहे तो अन्याय न होगा। कुछ भी गुरुदक्षिणा दिए बिना कीर्तनकारो के साथ बैठकर कितने ही सहज गायक और वादक बन गए। क्योंकि संगीत आखिरकार श्रव्य कला ही तो है उसका एक कारण यह है कि हवेली के कीर्तन उच्चकोटी के ध्रुवपद-धमार होने पर भी लोक मानस योग्य है।''[8] इस संगीतमय भक्ति परम्परा की सार्थकता इस तथ्य से स्पष्ट होती है कि अर्थोपार्जन एवं कला प्रदर्शन के उस दौर में भी समाज में एक वर्ग ऐसा भी था जो निर्विकार भाव से सांसारिकता से दूर हवेलियों की चार दीवारी में सिमटकर केवल अपने ईष्ट को प्रसन्न करने के लिए भक्तिपरक पद गाते रहते थे। धर्म, आस्था और विशुद्ध शास्त्रीय संगीत इसके आधारभूत तत्व थे जिनका तत्कालीन समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा। अत: हवेली संगीत परम्परा सदियों से भक्ति, संगीत एवं काव्य की त्रिवेणी में जनमानस को सराबोर करती रही है। इस परम्परा ने जहां अपने प्रारंभिक काल में भारतीय संगीत को धर्म एवं संस्कृति से जोड़कर उसे मुगल प्रभाव से बचाया वही दूसरी ओर वर्तमान समय में भी पाश्चात्यता के बढते प्रभाव के युग में भी हमें अपनी संस्कृति के मूल तत्व धर्म व संस्कृति से जोड़ने की कड़ी है।

गुरमति संगीत परम्परा

जीवात्मा के पृथ्वी पर अवतरित होने से लेकर ब्रह्मतत्व में विलीन होने तक वह ईश्वर का अंश माना जाता है। जीवन के प्रत्येक क्षण ईशस्मरण हेतू कीर्तन की परम्परा है। सिक्ख समुदाय में इसको 'गुरमति संगीत' परम्परा के नाम से जाना जाता है। आदि गुरू नानक देव जी द्वारा पंजाब प्रदेश की भूमि पर इस राग-बद्ध संकीर्तन की परम्परा द्वारा जनमानस को ईश्वर के प्रति आस्था, एकता और भाईचारे का संदेश प्रचारित किया गया। इसे 'गुरूवाणी' अथवा 'शब्द संगीत' के नाम से भी जाना जाता है। सिख धर्म में 'सिख' से अभिप्राय प्रत्येक उस व्यक्ति विशेष से है जो 'गुरूग्रन्थ साहिब' में वर्णित गुरुओं की 'सीख' का पालन करता है। अत: गुरमति संगीत परम्परा विश्वभर में फैले सिख समुदाय की आस्था का केन्द्र बिन्दु है। 'गुरू ग्रन्थ' साहिब के विषय में ऐसा वर्णन प्राप्त होता है कि इस ग्रन्थ में विभिन्न गुरूओं की पवित्र वाणी, विचारों, संदेशों तथा संकीर्तनों को सांगीतिक आधार पर लिपिबद्ध किया गया है। ''आदि गुरू नानक देव से लेकर परावर्ती काल के सभी गुरूओं की वाणी को यह पवित्र ग्रन्थ आधार प्रदान करता है। यह राग व ताल आदि संगीत के सभी संस्कारों से युक्त है। संगीत की इसी परम्परा को हम 'गुरमति संगीत' के नाम से जानते है।''[9] गुरू नानक देव जी ने यह अनुभव किया कि किसी भी धर्म के लिए जात-पात, ऊँच-नीच की भावना दीमक की तरह होती है जो उसे खोखला बनाती है और अर्थहीन हो जाता है। इसकी प्रेरण उन्हे मुस्लिम धर्म से मिली जहाँ खुदा की इबादत हेतु नमाज में बादशाह और गुलाम में कोई भेद नहीं होता। अत: गुरूद्वारों में इसी सहज समभाव के साथ अभिव्यक्ति की शबद-कीर्तन परम्परा की नींव रखी।

संगीत कला के अक्षुण भण्डार को स्वयं में आत्मसात किए गुरू नानक देव जी वाणी जनमानस को सहज ही आकर्षित कर लेती थी। सामाजिक अस्थिरता एवं साम्प्रदायिकता से त्रस्त समाज में जब शब्दकीर्तन की लहरियाँ गूँजी तो लोग आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख होते चले गए। लगभग 500 वर्ष पुरानी इस संगीत परम्परा को सिखों के पाँचवे गुरू 'अर्जुनदेव जी' द्वारा आदि ग्रन्थ के रूप में संपादित कर 'हरिमंदर साहिब' अमृतसर में स्थापित किया गया। इस कीर्तन परम्परा में रागों की शुद्धता, गायन समय एवं शास्त्रीयता का पूर्ण रूपेण का पालन किया जाता है। गुरू नानक देव जी स्वयं उच्च कोटि के संगीतकार थे। अत: उनका आदेश था कि कीर्तन संगीतमय होना आवश्यक है। 'राग' सहित करतार का गुण गाने का नाम कीर्तन है। प्रारम्भ के संगीत में दस संगतकारों द्वारा ही कीर्तन करने की प्रथा थी और अन्य केवल श्रवण करते हुए आनन्दित होते थे। गुरू अर्जुन देव जी द्वारा आदेश होने के पश्चात संगीत में प्रवीण व्यक्ति ही शबद कीर्तन कर सकता है। तभी से सिद्वा समुदाय में संगीत की शिक्षा प्राप्त कर कीर्तन करने का उत्साह जागृत हुआ। गुरूद्वारों में कीर्तन चार रागियों की मंडली द्वारा किए जाने की प्रथा है जिसमें एक मुख्य गायक, एक वादक और दो अन्य साथी गायक होते हैं। इन कीर्तन जत्थों को चैकियों की संज्ञा दी जाती है।

इस हेतू दिनभर के कीर्तन को पाँच चैकियों में विभाजित करके उसे एक दिया गया है। ''प्रथम आसा दी वार'' की चैकी है। यह रात्रि दो बजे से प्रारम्भ होते हुए राग आसा में निबद्ध है। इसके पश्चात आनन्द की चैकी का समय आता है यह राग रामकली में निबद्ध है और 'अनंदु साहिब' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके बाद 'चरण कमल चैकी' का समय आता है

इसे 'विलावल की चैकी' भी कहा जाता है। इसका समय दिन के दस बजे से लेकर दोपहर तीन बजे तक है। 'सोदारू की चैकी' का गायन समय सूर्यास्त है। इसके पश्चात अन्तिम चैकी के रूप में 'सुख-आसन' या कल्याण की चैकी का समय आता है। इसका प्रारंभ सूर्यास्त के पश्चात सात बजे से होता है इसमें पहले कल्याण और कन्हडा राग के शब्द गाए जाते है।''[10]

गुरमति संगीत परम्परा, शास्त्रीय संगीत, उपशास्त्री और यहाँ तक कि सभी लोकधुनों को भी आत्मसात कर उसे लोकानुकरण योग्य संगीत बनाया। गुरमति संगीत परम्परा भी अन्य परम्पराओं की भांति दिन के आठो पहर मनुष्य को ईश प्राप्ति के ध्येय में निरन्तर साधनारत हुए रहने के संदेश देती है और भक्ति का स्वरूप का निर्धारण संगीत की शास्त्रीयता के नियमानुसार निर्धारित है। निष्कर्षत: गुरमति संगीत परम्परा स्वयं में शास्त्रीय संगीत की सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्व आत्मसात किए हुए है। इसके माध्यम से ईश्वर समरण करने वाला साधक सहज ही परमब्रह्मा तत्व के निकट आ जाता है।

कीर्तन परम्परा

बंगाल प्रान्त की भूमि को रसमयी कीर्तन-परम्परा से भक्ति-विभोर करने का श्रेय 'चैतन्य महाप्रभु' को जाता है। अपने ईष्ट के नाम को स्वर, लय तथा झांझ मंजीरे खोल, खडताल आदि वाद्यों की संगति से उच्च स्वर में गायन करना कीर्तन परम्परा के मुख्य अंग माने जाते है। बंग प्रदेश में सगुण और निर्गुण भक्ति दो प्रकार की कीर्तन परम्परा समय-समय पर विद्यमान रही लगभग पंद्रहवी शताब्दी तक यहाँ राधा-कृष्ण के सगुण रूप की उपासना भरे कीर्तन की भक्ति धारा बही। चैतन्य महाप्रभु द्वारा 'भक्ति रस' को नवरसों के अतिरिक्त स्वतन्त्र रस के रूप में स्थापित किया गया। कीर्तन-परम्परा द्वारा अपनी समकालीन 'हवेली परम्परा' की भांति भगवान श्री कृष्ण की लीलाओं का वर्णन ओजस्वी एवं भावपूर्ण स्वरों में किया गया। यह वह समय था जब पूरे देशभर में भक्ति आन्दोलन की लहर थी। उत्तर प्रदेश की भूमि तुलसीदास, राजस्थान प्रदेश मीरा बाई, गुजरात प्रान्त नरसी मेहता, कर्नाटक त्यागराज जैसे भक्त कवियों की ओजस्वी वाणी से सराबोर था। ऐसे समय में चैतन्य महाप्रभु बंग प्रदेश में जनमानस की

आध्यात्मिक चेतना को पुन: जागृत करने हेतू प्रयासरत थे। वे जनमानस की भगवान श्री कृष्ण की लीलाओं का भावपूर्ण वर्णन में सिद्धहस्त थे। बंगाल में कीर्तन परम्परा अनेक नामों से विद्यमान रही 'नरोतम् गोस्वामी द्वारा', 'पदावली कीर्तन' परम्परा का निर्वाह हुआ तो, ग्राम आंचलों में 'ढप-कीर्तन' की परम्परा प्रचलित रही, कही निराकार ब्रह्मा को मानने वाला 'बाऊल सम्प्रदाय' संगीत की त्रिवेणी में डूब कर रसमग्न रहा, तो कहीं 'नगर संकीर्तन' की स्वरलहरियां गुजायमान रही।

अठारहवीं शताब्दी के मध्य बंगाल प्रदेश में ब्रह्म समाज की स्थापना से निर्गुण भक्ति का प्रचार रहा। परिणाम स्वरूप 'नगर-संकीर्तन' के नाम से निरंकार ब्रह्मा की उपासना का प्रचलन होने लगा। नगर-नगर में कीर्तनकारों की टोलियां घूम-घूम कर जनमानस को एकेश्वरवाद का संदेश दिया करती थी। लोकभाषा एवं लोकधुनों को 'ढप' नामक वाद्य की संगति के माध्यम से बंगाल के ग्रामीण परिवेश में जुल्आहो, मल्लाहो, मछुआरों, खेती करने वाले, मेहनतकश लोगो की बस्तियां ढप कीर्तन से गुंजायमान रही। इस संदर्भ में गुरु रविन्द्रनाथ टैगोर का कथन 'असली ईश्वर तो मेहनतकश मजदूरों की मलिन बस्तियों में निवास करता हैं'' विशेष रूप से द्रष्टव्य है। दिन भर की थकान को रात्रि में 'ढप-कीर्तन' के माध्यम से ईशोपासना में समाहित कर देने से बढकर ईशभक्ति का सर्वोत्तम उदाहरण और क्या हो सकता था। कीर्तन परम्परा की शृंख्ला में 'बाऊल' का भी उल्लेख करना अपेक्षित है यद्यपि 'बाऊल' एक सम्प्रदाय विशेष का परिचायक है, जिसमें केसरी बनाना पहने हाथ में एक तारा, कमर में ड्ग्गा, पैरो में घुंघरु और होठो पर भक्ति परक गीतो का गान करते हुए भक्त गायन, वादन व नृत्य की त्रिवेणी में पूरी तरह डूब कर भवसागर से पार होने हेतू प्रयासरत रहते है। 'बाऊल परम्परा' कीर्तन परम्परा से थोड़ी भिन्न अवश्य है क्योंकि इसमें बाऊल व्यक्तिगत रूप से ईशोपासना में लीन रहता है। जबकि कीर्तन परम्परा में व्यक्ति व सामूहिक अथवा व्यक्गित दोनों प्रकार से ईशवन्दना कर सकता है। परन्तु दोनों का उद्देश्य भगवत् भक्ति ही रहा है।

निष्कर्ष

ईशोपासना की संगीत मय परम्पराओं के विवेचन के निष्कर्षस्वरूप जो तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं, वे निम्नलिखित हैं—

1. जैसा कि पूर्व लिखित विवेचन से स्पष्ट है कि सभी सांगीतिक परम्पराओं का आधार शास्त्रीय संगीत रहा। अत: इन परम्पराओं की सार्थकता जनसाधारण तक शास्त्रीय संगीत का प्रचार-प्रसार करने में निहित है जबकि प्रत्येक युग में लोगों द्वारा देसी संगीत का अनुकरण करने की प्रवृति प्रचलित रही है क्यों कि आमजन संगीत कला को मनोरंजन एवं आजीविका का साधन ही मानते रहे हैं। जब से इसमें ईशआराधना का विषय सम्मिलत हुआ लोग इसके शास्त्रीय स्वरूप से भी अवगत हुए हैं। अत: संगीत कला के शास्त्रीय स्वरूप को जन-जन तक पहुँचाने में इन परम्पराओं की भूमिका निसन्देह अहम रही है।
2. युग परिवर्तन के दौर में इन सांगीतिक परम्पराओं के द्वारा संगीत कला को संरक्षण मिलता रहा। मध्यकाल में ध्रुवपद शैली को हवेली संगीत परम्परा द्वारा संरक्षण मिलना इसका जीवन्त उदाहरण है। इतना ही नहीं ये संगीत परम्पराएं स्वयं में संगीत के परम्परागत स्वरूप को आत्मसात किए हुए हैं। अत: इनके माध्यम से हमारी संगीत कला चिरकाल तक अपने उसी गरिमामय रूप में अनुकरणीय रहेगी।
3. ईशोपासना की इन परम्पराओं ने धर्म जैसे गूढ विषयों को प्रत्येक जन के लिए सहज, सरल और रोचक ढंग से प्रस्तुत किया, जिससे धर्म की जटिलताएँ कुछ हद तक कम हुई। जबकि इससे

पूर्व लोगों के लिए धर्म की व्याख्या कर्म-काण्ड आदि क्रियाओं तक सीमित थी। अत: किसी साधक के लिए भजन-कीर्तन, सतसंग आदि का अर्थ केवल उसमें प्रयुक्त होने वाले वाद्यों से ध्वनि उत्पन्न करने से नही है अपितु इसका गूढ अर्थ यह है कि आराध्य के प्रति भाव होना और उस भाव की अभिव्यक्ति हेतू स्वर प्रयोग। इशोपासना के सन्दर्भ में यह नियम विशेष रूप से दृष्टिगत होता है। जहां ईश्वर को प्राप्त कर लेने जैसे भावनों की जितनी अधिक तीव्रता (लग्न) होगी। उसी अनुरूप साधक का स्वर लगाव भी उतना ही शुद्ध होगा और स्वर जितना मधुर होगा, पवित्र होगा, भावाभिव्यक्ति उतनी ही सहज और आकर्षक होगी। कबीरदास, तुलसीदास, मीरा, रैदास, तुकाराम, दादू दयाल, गरीबदास, नरसी मेहता, गुरू नानक देव, महाप्रभु वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु द्वारा बताए गए संगीतमय भक्ति मार्ग पर चलकर संसार रूपी भवसागर को पार कर गए। अत: ईशोपासना और संगीत का सम्बन्ध शरीर और आत्मा जैसा है। जैसे आत्मा के बिना शरीर निर्जीव हो जाता है ठीक उसी प्रकार संगीत विहीन ईशोपासना स्वयं ईश्वर को भी रूचिकर नहीं है अथवा व्यर्थ है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. ब्रह्मस्पति, आचार्य, स्वर्गीय पण्डित ओमकारनाथ ठाकुर, संगीत पत्रिका (1968): पृष्ठ-44
2. देवांगन, तुलसीराम, हमारा भक्ति संगीत विभिनन दृष्टिकोण, संगीत पत्रिका (जनवरी 1970): पृष्ठ-09
3. गोस्वामी सुनीता, संगीतज्ञ-कवि नायक बखशू का साहित्य अनंग प्रकाश, 2003, पृष्ठ-96
4. श्रीमाल, प्यारे लाल, संगीतज्ञो की तपोभूमि ब्रज, संगीत समिति पत्रिका, पृष्ठ-23
5. गोस्वामी सुनीता, संगीतज्ञ-कवि नायक बख्शू का साहित्य, अनंग प्रकाशन, 2003, पृष्ठ-97
6. माला पंकज, वैदिक युग में संगीत शिक्षा का महत्व, संगीत शिक्षा अंक (जनवरी- फरवरी, 1988): पृष्ठ 66-67
7. शुक्ल, एन.एन., पुष्टिमार्ग और हमारी संगीत-परम्परा, भक्ति संगीत अंक (जनवरी 1970): पृष्ठ-33
8. गर्ग लक्ष्मी नारायण, निबन्ध संगीत, हवेली संगीत परम्परा, हाथरस प्रकाशन, 2001, पृष्ठ-514
9. रानी नीलू, संगीत साहित्य एवं अध्यात्म की समन्वयात्मक परम्परा गुरमति, संगीत पत्रिका, (अक्टूबर 2012): पृष्ठ-14
10. सिख गुरूद्वारों में कीर्तन परम्परा- जितेन्द्र कौर, पृष्ठ-119
11. वहीं पृष्ठ-17